कुआनो नदी

(१९६९-१९७३)

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-११०००६ पटना-८००००६

अनुक्रम

कुमानो नदी
सँकरी नीली शांत
जाने कब होगी प्रा[illegible]तिज, लाल, उद्दाम,
बहुत ग़रीब है यह धरती
जहाँ यह बहती है

कुआनो नदी

अपने छोटे भाई श्रद्धेश्वर के लिए
जो इस नदी को आज भी
झेल रहा है

बर्फ़ की एक सिल मेरे ऊपर
बर्फ़ की एक सिल मेरे नीचे
बर्फ़ की एक सिल मेरे दायें
बर्फ़ की एक सिल मेरे बायें
लेकिन जाने कैसी यह आग है
जो बुझती नहीं है।
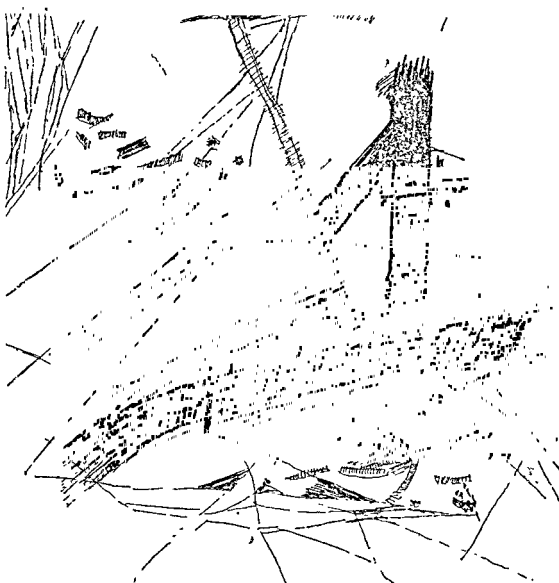
कुम्रानो नदी

फिर बाढ़ आ गयी होगी उस नदी में
पास का फुटहिया बाज़ार बह गया होगा,
पेड़ की शाखों में बँधे खटोले पर
बैठे होंगे बच्चे किसी काछी के
और नीचे कीचड़ में खड़े होंगे चौपाये
पूँछ से मक्खियाँ उड़ाते।

मेरी निगाह कुछ कमज़ोर हो गयी है।
दिल्ली की सड़कें दीखती हैं जैसे कुम्रानो नदी—
नदी जो एक कुएँ से निकली है
जिसे मैं अपने बचपन में
कभी खोज निकालने का उत्साह रखता था।

कुम्रानो नदी—

बादल झमाझम बरस रहे हैं
या बरस कर निकल गये है
या बरसने के लिए घिघिया रहे है
कुग्रानो नदी वैसी ही पसरी रहती है
हर समय मेरी ग्रांखों के सामने ।

बहुत गरीब जिला है वह, बस्ती—
जहाँ मैंने इसे पहली बार देखा था ।
मेरे नाना इस नदी में कूद पड़े थे
ग्रौर निकाल लिए गये थे
जिन्दगी से ऊब कर मर नहीं सके ।
तट पर न रेत थी न सीपियाँ,
सख्त कँकरीली जमीन थी काई लगी,
कहीं-कहीं दलदल था, झाड़ियाँ थीं दूर तक
जिनमें सोते बुलबुलाते रहते थे
ग्रौर चिड़ियाँ एक टहनी से दूसरी टहनी पर
शोर करती झूलती रहती थीं ।

बहुत सँभल कर मैं ग्रब भी जाता हूँ
नरसल की हरी छड़ियाँ काट कर लाता हूँ
उनसे लिखने की कलमें बनाता हूँ
दूसरे उन से पिपिहरी भी बना लेते हैं
जिसे बड़े शान से बाँसुरी कहते हैं,

उन पिपिहरियों की आवाज
आज भी सुनायी देती है मुझे
दिल्ली की इन सड़कों पर।

यह नदी मुर्दघाट के लिए मशहूर है।
कुआनो जाने का मतलब
किसी को फूंकने जाना है।
मेरे पिता को हर शव-यात्रा मे जाने का शौक़ था।
अक्सर वह आधी-आधी रात लौटते
और लकड़ियां गीली होने की शिकायत करते।
मां से कहते—'कुछ लोग अभागे होते है
उनकी चिता ठीक से नही जलती'
और हर अभागे की यही आखिरी कहानी
मैं आज भी सुनता हूँ।

इस नदी के किनारे
कोई मेला नही लगता।
न ही पूर्णिमा-स्नान होते है।
एक मंदिर है
जो बहुत कम खुलता है
जिसकी सीढ़ियां
अहदियों के बैठने के काम आती हैं।
मैं अक्सर वहाँ बैठा रहता हूँ
और दालान के कोने में
टूटा जाला लगा चमड़े का
एक बहुत पुराना बड़ा ढोल टँगा

देखता रहता हूँ जो अब बजता नहीं
और तेज हवा में
खड़खड़ाते विशाल भीने पीपल के पेड़ से
दैवी स्पर्श की तरह
किसी जालीदार पीले पत्ते के अपने ऊपर
गिरने की प्रतीक्षा करता रहता हूँ।
पुल पर—
दही के मटके लिए एक-एक कर अहीरों को
जाते देखता हूँ
वे सब शहर में दही बेंचकर गाँव लौटते होते हैं
कभी-कभी किसी के सिर पर लकड़ियों
के बोझ भी होते हैं
या गठरियाँ, खरीदे सौदे-सुलुफ़ की
उनकी परछाइयाँ शांत हरे जल पर अच्छी लगती है।

तट से लगा हुआ एक बाँध है
जिस पर ऊँचे-ऊँचे छायेदार दरख्त हैं।
जिनके नीचे से सड़क जाती है
कई तीखे घुमाव लेती,
सड़क पर अधिकतर बैलगाड़ियाँ चलती हैं
कभी-कभी कोई एक्का भी
परदा बाँधे, औरतों-बच्चों को बैठाए डगमगाता,
और फिर एक सायकिल धूल से भरी हुई,
भेड़-बकरियों के गल्ले,
नये खरीदे रँगे सींगों वाले बैल घंटियाँ बजाते
जिनकी आवाज धीरे-धीरे दूर होती जाती है।

पीला-पीला सूरज आसमान में डूबता है
और तभी एक तेज़ नारी-कंठ सुनायी देता है—
'लालो हो लाली'
और सड़क पर, पुल पर, पेड़ों पर अँधेरा छा जाता है।
मेरी निगाह कुछ कमज़ोर हो गयी है

इस नदी का
इस शहर से कोई संबध नहीं है
फिर भी नदी शहर की है।
इसको कोई पियरी नहीं चढ़ाता
न आदमी रामनामी डाले
सुबह तड़के भागते दिखायी देते हैं,
न अधेड़ औरतें ठाकुर जी का
सिंहासन लिए बतियाती जाती हैं।
दूधवाले पानी मिलाने
या प्राइमरी स्कूल के शिक्षक निवृत होने
अवश्य यहाँ रुकते हैं
और बंदर शाखों से उतर कर
इसके किनारे बैठे रहते हैं।

धूप में शहर की गंदगी
यहाँ साफ होती है
धोबी कपड़े धोते हैं,
आवारा औरतें सिगरेट पीती
गुनगुनाती-लिपटती
अपने ग्राहकों के साथ घूमती हैं।

रात में अक्सर क़त्ल होते हैं
लाशें कई-कई दिनों की पायी जाती है।
किसी स्त्री का फेंका हुआ
नया जन्मा बच्चा
कभी जिन्दा कभी मरा मिल जाता है।
शाम होते ही पुलिस
भारी टार्चों से रोशनी फेंकती
पुल पर गश्त लगाती है
और सियार हुआँ-हुआँ करते हैं।
चमगादड़ों के उड़ने से
शाखें खड़खड़ाती हैं
और किसी अकेली चिता की
आखिरी लपटें, बड़े-बड़े दहकते
अंगारों की आँखों से देखती हैं,
ऊपर आसमान में तारे होते हैं
नीचे नदी चुपचाप बहती जाती है।

यह नदी कगारे नहीं काटती
अपना पाट नही बदलती
जैसे बहती थी वैसे बहती है।
आज भी इसके किनारों के गावों में
सिघाड़ों के तालों में
बड़े-बड़े मटके औंधाए
मैं खटिकों को नंग-धड़ंग पानी में घुसे
सिघाड़े तोड़ते देखता हूँ।
और खटकिनों को तार-तार कपड़ों में

अपना पुष्ट युवा शरीर लिए
घर-घर हँसी और सिघाड़े बेंचते हुए,
लोहारों को धौंकनी के सामने
घोड़े-सा मुँह लटकाए
खुरपी, कुदाल और नाल बनाते हुए,
बढइयों को ऐनक का शीशा
सूत से कान में बांधे
बँसखट के पाये गढ़ते हुए,
और किसी बूढ़े फेरीवाले को
बिसातखाने का सामान गले मे लटकाये
हर घर के सामने कमर झुकाए
भिक-भिक करते हुए।

बरसात का पानी
आज भी गाँवो में भरता है
बिना जगत के कुओं के भीतर चला जाता है।
आदमी और चौपाए
खरवा से घायल पैर की उँगलियाँ
और खुर लिए लँगड़ाते चलते हैं,
सुअर लौटते हैं,
पानी में बैठी औरते खाना पकाती हैं
उनके चूल्हों में टीन की चादरें लगी होती है
नीचे पानी रहता है
ऊपर लकड़ियाँ धुआँ उगलती है
कभी-कभी लपट भी
जिससे अदहन खौल जाता है,

एक ओर कुत्ते हाँफते बैठे रहते हैं
और दूसरी ओर उनके बच्चे,
जिनकी आँखें अँधेरे में जलती
मिट्टी के तेल की ढिबरियों-सी दिखायी देती हैं।
ढिबरियाँ—जो शाम को केवल घंटे भर के लिए जलती है
फिर रात-भर अँधेरा छाया रहता है,
यह अँधेरा हर दूसरे महीने
भरों के घरों में आग लगने पर टूटता है
फूस के घर जल कर राख हो जाते हैं।
भर—जो मजूरी पूरी न पड़ने पर चोरी करते हैं
और एक-दूसरे को दुश्मन मान
उनका घर जलाते रहते हैं
उनकी औरतें रात-दिन आपस में
झगड़ती हैं, गालियाँ देती हैं
अघुआती हैं, बेसुरी आवाज़ में रोती है
और बच्चे नाक बहाते नंगे इधर-उधर
हर खुले दरवाजे की ताक में घूमते है।
और इन सबके बीच
कुआनो निर्लिप्त भाव से बहती रहती है
अपना पाट नहीं बदलती।

इस नदी ने मुझे अंधा कर दिया है
मुझे कुछ दिखायी नही देता
अपनी ही आकृति क्रूर-कठोर लगती है।
एक बंजर भूमि में
बढ़े हुए नाखून लिए मैं खड़ा हूँ

जैसे उनसे ही नयी फ़सलें उगा लूँगा
जैसे उन्हीं के सहारे
नहरें खींचता
मैं उन खेतों में ले आऊँगा
जहाँ काँसे की चूड़ियाँ खनकाती
औरतें मुँहअँधेरे दौरियाँ चलाती हैं
निराई और बोआई के गीत गाती हैं
और कटी हुई फ़सलों के बीच
पीली धोती अनवासे
एक साँवली लड़की दौड़ती हुई दिखायी देती है।

नाखून दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं
और ज़मीन उसी अनुपात से बंजर होती जा रही है
और नदी हर दिल में उसी रफ़्तार से शांत
हर विवशता का उपहास-सा करती।
अभी एक डाँगर बहता हुआ निकल गया
अभी एक आदमी बहता हुआ चला जायेगा
जिसकी लाश पर कौए बैठे होंगे
जिन्हें मैं अक्सर दिल्ली की इन सड़कों पर
उड़ता हुआ देखता हूँ
शायद ये हंस हों!
मेरी निगाह कुछ कमजोर हो गयी है।

कुग्रानो नदी
सँकरी, नीली, शांत
जाने कब होगी
ग्राशिक्षित, लाल, उद्दाम।
बहुत ग़रीब है यह धरती
जहाँ यह बहती है।

(सितम्बर, १९७०)

कुश्रानो नदी के पार

अभी भी उस लग्गी की चुभन
मैं अपनी पसलियों पर महसूस करता हूँ
और एक सूखे चीमड़ कंकाल का
रूखा झुर्रियोंवाला हाथ
मेरे गालों से छू जाता है।
मैं कड़कती सर्दी में
पुल से न होकर नाव से
वह उथली नदी अक्सर पार करता हूँ
दिल्ली की इन सड़कों पर।

उसकी सूजी हुई छोटी आँखें पीली पड़ गयी हैं
और वह मुझे एक लाश की तरह देखता है
(जिन्दा आदमियों को भी इस तरह देखने की
उसकी आदत है)

लग्गी पर ज़ोर लगा जब वह उथले पानी में
नाव ठेलता है तब उसकी एक-एक नस फूल
उठती है
जिसे यदि मेरे पास समय होता
मैं आसानी से गिन सकता था
लेकिन मैं हर गँदले पानी में
किसी मछली को देखना पसंद करता हूँ।

मैं चाहता हूँ नदी का पाट चौड़ा होता
मेरी यात्रा कुछ बड़ी हो सकती
लेकिन तट के कीचड़ में नाव
धीरे-धीरे जाकर फँस जाती है।
फिर एक बदबू-सी उठती है
और वह नमक और तेल लगी अपनी
रोटी चुपचाप खाने लगता है।

'मौन रहो और प्रतीक्षा करो
'मौन रहो और प्रतीक्षा करो।'
यह मंत्र दोहराता-दोहराता
मैं नाव से उतरता हूँ
और बिना उसकी ओर देखे
तेज़ी से इन इमारतों की बगल से गुज़र जाता हूँ
जिन पर 'सत्यमेव जयते' को खरोंच कर
लिखा हुआ है : 'सब चलता है'
दिल्ली की इन सड़कों पर।

धरती को फोड़ कर
ईश्वर के हाथ की तरह
वृक्ष खड़े हैं मुँह लटकाये भावहीन
जिनके नीचे उस आदमी की लाश पड़ी है
जो कल सड़क पर ठंड से मर गया।
इनकी एक कतार भी हो सकती है
लेकिन मेरी आँखे कमजोर हो गयी हैं।
मैं यह मानना नहीं चाहता
कि नदी के पार कुछ नहीं है सिवा लाशों के।

मैं भागता हूँ और देखता हूँ :
यह खेतिहर मजदूर भूख से मर गया,
यह चौपाये के साथ बाढ़ में बह गया,
यह सरकारी बाग की रखवाली करता था
लू में टपक गया,
यह एक छोटे-से रोज़गार के सहारे
जिन्दगी काट ले जाना चाहता था
पर जाने क्यो रेल से कट गया।

मैं गुमटी पर रुक जाता हूँ
रेलगाड़ियाँ तेजी से निकल जाती हैं
सामने एक छोटी-सी वस्ती है
या छोटा-सा जंगल
वात एक ही है—
दलदल के खड़े पेड़ जड़ से सड़ने लग गये है
पत्तियाँ काली पड़ रही हैं

कुछ दिनों और हवा की छेड़छाड़
परिन्दों की उछल-कूद
छाल की काई पर मकोड़ों का रेंगना
फिर अंतिम क्षण तक
दूसरों की डालियों से
अपनी डालियाँ उलझा कर
खड़े रहने की कोशिश
बस यही है यहाँ सब का आखिरी बयान
चाहे पेड़ हो या आदमी।
ओ ढलते सूरज इसे दर्ज कर लो !

क्या आधी जिन्दगी
मैंने यहीं पहुँचने के लिए सर्फ़ की ?
मैं सोचता हूँ और भागता हूँ
मैं भागता हूँ और सोचता हूँ :

—यह बच्चा है इसका कटा हुआ धड़
बस्ता लिये स्कूल के फाटक पर पड़ा है
इसके हाथ में पत्थर है
जिसे वह पुलिस पर फेंक रहा था,
यह बूढ़ा अपनी सूखती फ़सल के लिए
रात में बरहा काट रहा था,
यह जवान जब कुछ नहीं बना
छर्रों की बंदूक लिये हवेलियाँ लूटने की
सोच रहा था।

यह पागल था
पुलिस की हिरासत में
निज़ाम उलटने के गीत गा रहा था,
यह एक किराये के जुलूस का
तमाशा देखते-देखते
अपनी जरूरतों पर सोचने लगा था
गोली चलने पर भागना भूल गया,
यह हरिजन था इसे जिन्दा जला दिया गया
यह अनपढ़ गरीब था
इसे देवी की बलि चढ़ा दिया गया,
यह आस्थावान धर्मगुरुओं की कोठरी में मरा,
यह अनजानी ऊँचाइयाँ छूना चाहता था
छत की कड़ी से झूल गया—
मैं देखता हूँ और भागता हूँ
मैं भागता हूँ और देखता हूँ
मैं यह मानना नहीं चाहता
कि नदी के पार कुछ नहीं है
सिवा लाशों के ।

मैं अधजले मकानों के पास रुक जाता हूँ
नारे लगाते जुलूस तेज़ी से निकल जाते हैं,
शब्द दम तोड़ती मछलियों की तरह
उलट कर अर्थहीन हो जाते हैं
उनमें और पथराई पुतलियों में
कोई अंतर नहीं दीखता ।

—बम बनाते समय ज़रा-सी चूक से
इसके हाथ-पैर उड़ गये,
बिना कुछ सोचे-समझे
एक लाल किताब हाथ में लिये
ये मौत के साथ जुड़ गये,
उसने सोच-समझकर हड़ताल की
अकेला छूट गया,
विक्षोभ, अपमान और ग़रीबी से
असहाय टूट गया।
क्या कोई यहाँ जिन्दा है ?
मैं न घृणा करता हूँ
न प्यार
केवल समझना चाहता हूँ
धूप में झिलमिलाती पत्ती की चिकनई को
या वर्फ़ में पड़े फूल के रंग को।
जब चढ़ जाती है लतर
झाँझर टट्टर पर,
गिरगिट खड़खड़ाता रेंगता है
सूखी डालियों में
इन रगों में खून दौड़ता क्यों नही ?
और इन हजारों आँखों की चमक से
फल्ले क्यों नहीं फूटते ?
क्यारियों की नम भुरभुरी मिट्टी में पड़ी
ठंडी खुरपी-सी जिन्दगी को
प्रतीक्षा है जिन हाथों की
वे कहीं गोदामघरों के दरवाज़ों पर

काट कर लगा तो नहीं दिये गए ?
मैं समझना चाहता हूँ
ठीक वैसा ही अँधेरा
यहाँ हर माथे की सिलवटों में क्यों नहीं है
जैसा अकुरिता धरती की दरारों में होता है ?
मैं न घृणा करता हूँ न प्यार
केवल समझना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ और भागता हूँ
मैं भागता हूँ और पूछता हूँ :
क्यों हम आदमी को
आदमी की तरह नहीं देख पाते ?
क्यों ये सब फ़ाइलों में मरे पड़े है ?
क्यों ये स्कूलों और कालेजों में,
क्यों ये बड़े-बड़े दफ़्तरों,
ऊँची-ऊँची इमारतों में,
क्यों ये सत्ता की होड़ में,
क्यों ये एक-एक पाई की जोड़-तोड़ में,
क्यों ये थोथे सिद्धांतो के नीचे
दब कर मर गये,
यदि बच रहे
तो फूली लाश की तरह उबर गये ?
क्यों हर हाथ टूटा है ?
क्यों हर पैर कटा हुआ है ?
क्यों हर चेहरा मोम का है ?
क्यों हर दिमाग़ कूड़े से पटा हुआ है ?

क्यों यहाँ कोई ज़िन्दा नहीं है—
चीखता हुआ मैं नदी के किनारे
उस नाव पर लौट आता हूँ
जहाँ से
'मौन रहो और प्रतीक्षा करो' को
एक मंत्र की तरह
जपता हुआ उतरा था,
और जहाँ अब वापस लौटा ले जाने के लिए
उस सूखे चीमड़ कंकाल का
रूखा झुर्रियोंवाला हाथ भी नहीं रहा,
रोटी का टुकड़ा लिये बेजान पड़ा है।
मैं एक मक्खी की तरह
खुद अपने ऊपर भिनभिनाने लगता हूँ
दिल्ली की इन सड़कों पर।

कुआनो नदी उतनी ही उथली है,
नाव उतनी ही छोटी कीचड़ में फँसी हुई,
मुर्दे उतने ही बेशुमार,
कहाँ हो, ओ क्रांति के सूत्रधार !

(फरवरी, १६७२)

कुआनो नदी—ख़तरे का निशान

पानी चढ़ रहा है :
ख़ून खौल रहा है,
बहुत क़रीब आ गया है
ख़तरे का निशान।
निर्मल नही होती कोई बाढ़—
उफान है, भँवर है,
गंदगी है, अंधावेग है,
न जाने कहाँ-कहाँ से
बहता आता कूड़ा कतवार है,
आँखों के आगे आक्षितिज
फैला है जूझता मटियाला प्रवाह—
मेरी निगाह कुछ कमजोर हो गयी है।

आधी रात वह मेरी साँकल खटखटाता है,

'किसी भी समय बाँध टूट सकता है
निकल चलो मेरे साथ...'
लेकिन मैं शब्दों को संदूक की तरह
मेज़ पर कुर्सियाँ और कुर्सियों पर
चारपाइयाँ रखकर जमाता हूँ।
'यह लड़ाई अब नहीं चलेगी
बहुत क़रीब आ गया है
खतरे का निशान।'
उसकी आँखें व्यंग्य से मेरी ओर देखती हैं।

मुझमें अभी भी
बहुत कुछ बचा ले जाने का मोह है
और नदी को सब कुछ तोड़ने का जोश।
मुझे उसकी आँखों में
सुबह के अखबारों की सुर्खी दिखायी देती है
और मैं देश के नेताओं के चित्र
शृंगारदान से बाँध
उसे रस्सी के सहारे
लाश की तरह छत की कड़ी से लटका देता हूँ।

'उन्होंने अपनी रक्षा का इंतज़ाम कर लिया है
बालू के बोरे खत्म होने पर
बारूद के बोरों की दीवारें खड़ी कर दी हैं
बाँध की सूराखों में तोपें अड़ी हैं
हेलीकाप्टरों पर चढ़ वे मोर्चा सँभाल रहे हैं
निकल चलो मेरे साथ

पानी चढ़ता जा रहा है ।'

मैं जल्दी-जल्दी
वे सब किताबें चादर में बाँधता हूँ
जिन्हें बचपन से पढता आया हूँ ।
'ज्यादा कोशिश मत करो
पानी पहले नीव ही हिलाता है'

पर मैं गाँठ कसता जाता हूँ ।

'जो बहुमूल्य हो, भारी न हो
उसे रखलो, जल्दी करो ।'

मैं चारों खाने चित पड़ी
देवमूर्तियाँ देखता हूँ
पहली बार मुझे लगता है
मेरे पास बहुमूल्य कुछ भी नहीं है
मेरी जान तक नहीं,
फिर मैं क्यों सब बचाना चाहता हूँ ?

'तुम्हारे पास रोशनी तो होगी ?'
—मैं पूछता हूँ ।

'कड़कती बिजली है
दिलों में, बस ।
हर अँधेरा खुद

रोशनी को जन्म देता है
अँधेरे में निकल पड़ो
तो अँधेरा अँधेरा नहीं रह जाता।
जल्दी करो, क्या तुम टार्च ढूँढ़ रहे हो ?'

मैं मेज हिलाकर देखता हूँ
कि कुर्सियों पर टिकी
चारपाई पर रखा
शब्दों का संदूक
हिल तो नहीं रहा है।

'क्या तुम सोचते हो
तुम इसे बचा ले जाओगे ?
तेज़ हलकोरों में
सबसे पहले यही लड़खड़ायेगा,
लगता है तुमने कभी बाढ़ देखी नहीं है
जिस पर तुम उसे टिका रहे हो
उस लकड़ी को बहते सड़ते कितनी देर लगती है ?
अब मोह छोड़ो जल्दी करो।'

मैं किताबों का गट्ठर उठाता हूँ
संविधान की पुस्तक
सरक कर गिर पड़ती है
जिल्द से अलग हो जाती है।

मुझे लगता है चादर छोटी है।

'अब इसे इस हिलती कुर्सी के
पाये के नीचे लगा दो,
कुछ बचाने के लिए
कुछ खोना पड़ता है
जो खोने से डरता है
वह बचा नही सकता।'

मै उसकी ओर देखता हूँ
जैसे कि वह गीता रहस्य हो।

घर के पिछवाड़े बँधी
गाधी जी की बकरी मिमियाती है
और कही गोली चलने की आवाज आती है।

'यह संकेत है बाहर आने का।'

मुझे धुएँ से भरे चायघरों में बैठे
मरियल हकलाते छोकरे याद आते है
जैसे बाढ़ में तैरते कछुए
जिनकी पीठ सख्त हो।

इस नदी में
न जाने कितनी बार बाढ़ आयी है
रगों में खून खौला है
पर हर बार अँगीठियों से तमतमाए चेहरों पर
रोटियाँ ही सेकी गयी हैं

पानी कभी खतरे का निशान पार नहीं कर पाया
हर बार पछाड़ खा-खाकर शांत हो गया है,
एकाध पुश्ते टूटे हैं
एकाध गाँव डूबे हैं—
नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम, मुसहरी,
पानी कछार में फैल
सूखी धरती और सूखे दिलों में जज्ब हो गया है।
इनसान उस पेड़ की तरह खड़ा रहा है
जिससे बाँध कर निरपराधों को
गोली मारी गयी हो।
कितना आसान है पेड़ के लिए
बिना किसी खरोंच के अपने को बचा ले जाना।

मैं अपनी पसलियाँ टटोलता हूँ
जैसे जेल के ठंडे सींकचे हों।

'क्या तुम्हें यक़ीन है
इस बार बाँध टूट जायेगा ?'
'चंद कोयले ही अगर जल उठें
तो बाकी गीले कोयले भी आग पकड़ लेते हैं।'

उसकी आँखों से निकलता धुआँ
मेरे चारों ओर फैलता जाता है,
मुझे लगता है अभी एक लपट कौंधेगी
और इस हरहराते पानी में आग लग जायेगी।

'अब हम मुजस्सिम असंतोष है
पारा किसी की चुटकी में नही आता
तुम अभी फ़ैसला नही ले पा रहे हो
मैं ले चुका हूँ, जाता हूँ।
पर याद रखो
फ़ैसले पर न पहुँचा हुआ आदमी
फ़ैसले पर पहुँचे हुए आदमी से
ज़्यादा ख़तरनाक होता है।
बहुत क़रीब आ गया है
ख़तरे का निशान।'

बाहर फिर गोली चलने की
आवाज आती है।
गहरे अँधेरे मे वह
झमझमाता निकल जाता है
पता नहीं पत्थरो से
या बाढ़ में बहकर आयी
लाशों से ठोकरें खाता।

और मैं फिर निकलने से पहले
चीज़ों को अच्छी तरह देखता हूँ
कहीं कुछ हिल तो नही रहा है।

(दिसम्बर, १९७२)

ग़रीबी हटाओ

मुद्राराक्षस के लिए

दुख तुम्हें क्या तोड़ेगा
तुम दुख को तोड़ दो,
केवल अपनी आँखें
औरों के सपनों से जोड़ दो।
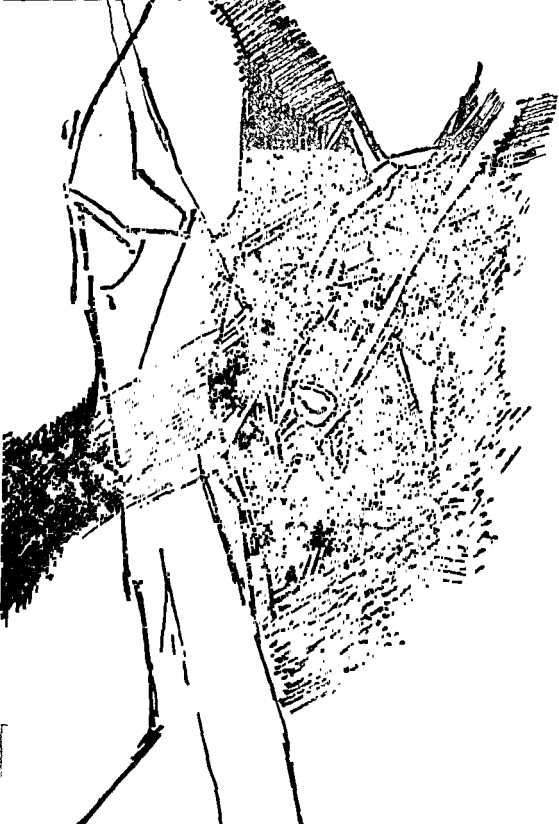
गरीबी हटाओ

गरीबी हटाओ सुनते ही
उसने मिट्टी से अपने बाल धोये
और पालतू बंदर के सामने बैठ गयी
जो उसके जुएं खाने लगा।
फिर उसने अपनी लुगरी
घाट के पत्थर पर खूब पटकी
जब तार-तार हो गयी
और मैल झंडे की शक़्ल में वह निकला
तब वह धूप में तन कर खड़ी हो गयी,
उसका आँचल क़िले पर लगी
शत्रु की सीढ़ियों की तरह
उस पर टिका था
जहाँ से वह समृद्धि को चढते देख रही थी।

गरीबी हटाम्रो सुनते ही
सबके सब फटे जूते सिलवा
और चप्पलों मे कील जड़वा चल दिए,
काफ़ी चल लेने के बाद
जब वे सोचने बैठे किधर जायें
तब तक उनके जूते फिर टूट चुके थे
और वे नगे पैर थे मोची की तलाश में।

गरीबी हटाम्रो सुनते ही
उन्होने एक बूढे आदमी को पकड़ लिया
जो उधर से गुजर रहा था
और उसकी झुर्रियाँ गिनने लगे,
तेईस वर्ष गिनने के बाद
जब वे हिसाब में भटक गये
तब उन्होंने फिर से शुरूआत की
तब तक उनकी आँखो की रोशनी कम हो गयी थी
भौंहों पर सूरज डूब गया था,
उन्होने बूढे से पूछा—
'क्या वह मशाल ला सकता है',
जब वह हिला-डुला नही
एक तरफ़ को लुढ़क गया
और वे आखिरकार उसे ही मशाल की तरह
ले चलने की सोचने लगे
तब उन्हे मालूम हुआ
उनके कंधों पर मांस नही है
और उन्हें मुर्दागाड़ी की इतजार करनी है।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे कब्रिस्तानों की ओर लपके
और मुर्दों पर पड़ी वे चादरें उतारने लगे
जो गंदी और पुरानी थीं,
फिर वे नयी चादरें लेने चले गये
जब लौट कर आये
तो मुर्दों की जगह गिद्ध बैठे थे ।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे पिचके पेट पर तकिए बाँध
घास के मैदान में खड़े हो गये,
अपना आधा जिस्म गाय
और आधा जिस्म घोड़े की पूँछ में बाँधकर
सारे कछार में घिसट लेने के बाद
जब वे रुके
तब उनकी बत्तीसी झर चुकी थी
और वे गरम पानी खौला रहे थे ।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे एक ऊँचे पेड़ पर चढ़ने-उतरने लगे
कभी सिर नीचे होता और पैर ऊपर
कभी पैर नीचे होता और सिर ऊपर,
कुछ दिनों बाद जब सिर और पैर
दोनों का अहसास जाता रहा
तब वे उस पेड़ की खोखल में फँस गये
जहाँ एक पुराने साँप ने अंडे दे रखे थे

जो फूटने ही वाले थे ।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे अंधे कुओं में उतर गये
और उन्हें छानने लगे,
ईंट, कंकड़, टूटे घड़े, जंग लगे लोटे
जमा कर लेने के बाद
जब वे कीचड़ से लतपथ बाहर आने को हुए
तब उन्हें उपाधियों से अलंकृत किया जाने लगा
और वह रस्सी काट दी गयी
जिसके सहारे वह कुओं में उतरे थे ।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे एक बहुत बड़ी रोटी बेलने लगे,
काफ़ी बेल लेने के बाद
उन्हें पता चला तवे छोटे हैं
और चूल्हे नदारद,
फिर वे हाथ पर हाथ रख कर बैठ गये
जब आटे में फफूंद लग गयी
तब वे उस फफूंद से दवाइयाँ तैयार करने की सोचने लगे
जिनसे भूख का इलाज हो सके ।

गरीबी हटाओ सुनते ही
उन्होंने कीड़े पकड़े
और गंदी बस्तियों में छोड़ दिए
और बाहर छोलदारियो में बैठ

उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा करने लगे,
जब कीड़े फूलने लगे
और लोग गंदी बस्तियाँ छोड़ भागने लगे
तब वे छोलदारियाँ उठा चल दिए।

गरीबी हटाओ सुनते ही
उन्होंने बड़े-बड़े नक्शे बनाए
आँकड़े इकट्ठे किये
और उन्हें रटने लगे
नक्शों की वर्दी पहन
जब वे एक क़तार में खड़े हुए
और राष्ट्रीय धुन बजने लगी
तब उन्होंने क़वायद शुरू की
और एक ही जगह पर पैर पटकने लगे।

गरीबी हटाओ सुनते ही
वे हर घायल कान को अपनी जबान से चाटने लगे
और ठीक उनके नाप के शब्द बोलने लगे
जब कान छोटे होते शब्द छोटे कर देते
जब कान बड़े होते शब्द बड़े कर देते
इस खींचातानी में शब्द टूट गये
और पहचान से परे हो गये
फिर उन्होंने अपनी ज़बानें सिल लीं
और कानों को पाटने के लिए
रूई की खेती करने लगे।

(नवम्बर १९७१)

भुजैनियाँ का पोखरा

चालीस साल पहले वह मरी थी
यहाँ डूब कर
जहाँ मेरी बहिन हर नागपंचमी को
अपनी सखियों के साथ
गुड़ियाँ सिराती थी
और मैं हरे जल पर तैरती गुड़ियों को
रंगीन छड़ियों से मारता था।
उसके नाम से यह पोखरा
लगता है हर गाँव में आज भी है।
भाड़ के सामने काली भूतनी-सी
आज भी वह बैठी है
पसीने से चिपचिपाती देह लिए,
चुप खामोश,
एक-एक चने से अपना भाग्य जोड़ती

दुखती रगें तोड़ती ।
उसके अधनंगे बच्चे
भाड़ झोंकने के लिए
दिन भर सूखी पत्तियाँ बटोरते हैं
और शाम को मक्के की रोटी
और नरई का साग अगोरते हैं ।
साग के पोपले डंठलों में
साँप के बच्चे होने का भय
खाने के साथ एक उदास संगीत-सा
उनके दिलों में बजता रहता है ।
अक्सर वे कुछ और खाने की ज़िद करते
और दूसरों के मुँह से सुनते—
'भुजइन की बिटिया बड़ी छिछिन्नर
भुजिया भात नहीं खाय
एक दिन भुजइन एस एस मरलिस
मकुनी ढकेलले जाय ।'

लेकिन सुनते हैं
अब वह पोखरा सूख गया है
पास के छिछले गढ़ों में
नरई का साग भी नहीं है
और न ऊँचाई पर पथरचट्टा
मकुनी भी नहीं मिलती ।

फिर भी दिन पर दिन बुझती
उनकी जलहीन कातर आंखों में

कोई गुड़ियाँ फेंकता है
और एक हुजूम उन्हें
रंगीन छड़ियों से पीटता है,
कच्चे टाँके मार से
टिकते नहीं उधड़ जाते हैं।
'सीवन और मजबूत होनी चाहिए'
मैं चीखना चाहता हूँ
पर मुँह से आवाज नहीं निकलती।

उधड़ती जा रही है
सींवन हर देह की,
टाँके दिन पर दिन कच्चे होते जा रहे हैं,
पर हर हाथ में मारने वाली छड़ियाँ
और मजबूत और रंगीन होती जा रही हैं।

सारा देश एक ठंडे भाड़-सा दीखता है
सूखी पत्तियाँ उड़ती डोलती हैं
बालू सूखे पोखरे में जल रही है।
चालीस साल पहले वह डूब कर मरी थी
अब डूब मरने के लिए
कहीं चुल्लू भर पानी भी नहीं है।

(जून, १९७३)

गोबरैले

: १ :

यह क्या हुआ
देखते-देखते
चारों तरफ़ गोबरैले छा गए।

गोबरैले—
काली चमकदार पीठ लिए
गंदगी से अपनी-अपनी दुनिया रचते
ढकेलते आगे बढ़ रहे हैं
कितने आत्मविश्वास के साथ।

जितनी विष्ठा
उतनी निष्ठा।

कितनी तेजी से
हर कोई यहाँ रच रहा है
एक गोल-मटोल ससार
और फिर उसे
तीखी चढ़ाइयों
और ऊबड़-खाबड़ ढलानों पर
ठेलता जा रहा है ।

देखने-सुनने और समझने के लिए
अब यहाँ कुछ नहीं रहा—
सत्ताधारी, बुद्धिजीवी,
जननायक, कलाकार,
सभी की एक जैसी पीठ
काली चमकदार,
एक जैसी रचना
एक जैसा ससार ।

पच्चीस वर्षों से लगातार
यही देखते-देखते
लगता है हम सब
गोबरैलों में बदल गए हैं,
यह दूसरी बात है
कि अपना ससार रचने के प्रयास में
हम औंधे गिर पड़े हैं;
हमारे नन्हें-नन्हे पैर
इस शून्य में निरंतर चल रहे हैं

ग्रौर चलने जा रहे हैं
जव तक यह विराट ग्राकाश
एक गंदी गोली में न वदल जाए ।

: २ :

ग्रच्छे से ग्रच्छा शव्द फूलकर
गोवरंले में वदल जाता है
ग्रौर वड़े से वड़े विचार को
गंदी गोली की तरह ठेलने लगता है—
चाहे वह ईश्वर हो या लोकतंत्र ।

गोवरैले चढ़ रहे हैं
गोवरैले वढ़ रहे हैं
ग्रौर हम सव
ग़लीज इश्तहारों से लदी
दीवार की तरह निर्लज्ज खड़े है ।

क्राति के नाम पर
यदि ये कभी कुचल भी गये
तो कही खून नही होगा
एक लिजलिजे पीले मवाद-सा
चारों तरफ कुछ फैल जायेगा ।

: ३ :

हरे है जगल
हरे है घाव

हरे हैं दुख
लेकिन सब काला-काला दीखता है
(इन्ही गोबरैलों के कारण)

काली है आँधियाँ
काला है खून
काले हैं मन
लेकिन सब हरा-हरा दीखता है
(इन्ही गोबरैलों के कारण)

(दिसम्बर, १९६९)

हम ले चलेंगे

हम ले चलेंगे
हम ले चलेंगे
चिल्लाते मिलते है
बस अड्डे पर कुली
और मंच पर नेता।
देखते ही देखते
सिर पर से बक्स ग़ायब हो जाता है
और मंच से जवाब।

किसी सूखाग्रस्त गाँव के
कुत्ते की तरह
सिवान पर दम तोड़ता
मिलता है हर सवाल,
जहाँ लिखा है—

'यह जगह आपकी है
कृपया इसे गंदा न कीजिए।'

(२० मार्च, १९७०)

दुकेलो मौत

उसने कहा, सुनते हो ?

....

मै चुप रहा ।

....

मैंने कहा, सुनती हो ?

....

वह चुप रही ।

....

मैंने कहा, एक टुकड़ा रखा है ।

....

वह बोली नहीं ।

....

मैंने कहा, गुड़ भी है ।

....

वह चुप रही, सो गयी।
मुझे फिर नींद-सी आने लगी।
जब आँख खुली मैंने देखा,
चीटे उसकी ओर लपके जा रहे हैं।
मैंने आँखें बन्द करली।

धीरे-धीरे चीटे हाथियों में बढ़ने लगे।
फिर पिघलकर फैल गये।
फिर…
फिर कुछ भी दिखाई देना बन्द हो गया।

काला गहरा अँधेरा छा गया।

(१८ जुलाई, १९७३)

बाँसगाँव

कच्ची सड़क की धूल
मेरी आत्मा पर जम गयी है
और क़स्बे की ढेबरियाँ
बिना हवा के जलती हैं।

स्कूल बन्द है
सूने बरामदे में वर्णमाला की
फटी हुई किताब-सी
एक पिचकी गेंद
हवा में उछालती
स्मृतियाँ मेरी माँ के साथ सो गयी है।

सड़क के किनारे एक पूरे पके कटहल के कोये खा
वह डकारता चला गया,

धूप से जले नंगे काले जिस्म पर
सफेद जनेऊ की चमक
नहीं बन पायी चमक मेरी आँखों में।
अभी फिर भूरे छप्परों के धुएँ के साथ-साथ एक चीख
कंधे पर रखी लाठी की तरह
मेरे दीदों से टकरा गयी
और हैजे से मरे आदमी को
चुपचाप लोग उठा ले गये।

दिलों का अँधेरा सिकुड़ता-सिकुड़ता
काली बकरियों में बदल गया है
जिनकी पीली आँखों में थिर है विराम,
जो मौत के पहले मिमियाने को आजाद हैं,
और जिनका खून
मंदिर से रंग कर कचहरी के अहाते तक
निरंतर बह आता है—
और एक बेफरियाद कत्ल की हुई लाश
संकरी गली में खड़े साँड़ के मुख की खामोशी में
हर बार एक उम्र के लिए जुगाली करती रह जाती है।

आदमी गुप्ती है
जो एक झटके से तेज़ धार में बदल जाता है।

मच्छरों के साथ भनभनाती
वेग के साथ उछलती
शाम, रोज थके मुसाफिर-सी

बस के अड्डे पर उतरती है
कच्ची सड़क के हिचकोलों से अपनी कमर पकड़े
धूल-धूसरित,
और हर बार तेलही मिठाइयों और पकौड़ियों के बीच
पच्चीस साल से लाठी टेकती ललचाती पागल बुढ़िया में
बदल जाती है
जिसकी गालियों में कोई अर्थ नही रह गया है
जिसकी गरीबी मजाक है
और जिसकी भूख भोथरी संवेदना पहटने का चमड़ा।

बाँसगाँव एक पत्थर है
दानवीर सेठ लोकतंत्र का
जो बंद प्याऊ पर लगा है
जिससे पीठ टिकाए, इस जलती धूप मे
आज भी खड़ी है मेरे साथ हाँफती गरीबी।

जब पसलियाँ ही क़िला हों

जब पसलियाँ ही क़िला हों
तब शत्रु छोटा पड़ जाता है ।
संकल्प की दुर्लघ्य खाई के बीच खड़ा आदमी
न गिरता है, न टूटता है
तोपों के गोले नाकाम हो जाते हैं।

बड़ी से बड़ी फ़ौज को मैंने
इस खाई में उतरते और फिर
विलीन हो जाते देखा है ।
स्वाभिमान से मरते हुए आदमी की
एक उपेक्षा भरी हँसी
बुलेट से ज्यादा गहरा घाव करती है
एक लाश की छाती
विजेता की छाती से ज्यादा चौड़ी होती है ।

अवसर ऐसा होता आया है
कि आज़ादी का नाम लेनेवाले की जबान
आततायी काट लेते रहे हैं
और लाखों ऐसी जबानों की माला पहन कर
खड़े हो गये हैं,
लेकिन आवाज गयी नहीं है।

एक कटी हुई ज़बान
करोड़ों सिली हुई जबानों को खोल देती है।

तुम अपनी विजय का झंडा
आकाश में बहुत ऊँचाई पर फहरा सकते हो
लेकिन इनसानियत का सर
एक लाश के घाव के सामने ही झुकता है—
आजाद आदमी की लाश के घाव के सामने,
क्योंकि उसमें से ऐसी रोशनी फूटती है
जो कभी गुल नहीं होती
सदियों तक उसके सहारे
धर्मग्रन्थों पर बैठे
निरीह ईश्वर का मुँह देखा जा सकता है।

(१८ अप्रैल, १९७१)

एक बस्ती जल रही है

एक बस्ती जल रही है
और सारी दुनिया
कुएँ की जगत पर पाँव पसारे बैठी है।

दूर बिना पहियों के दमकल खड़े है,
और आग बुझाने वाले
बार-बार अपनी पोशाक
उतारते और पहनते हैं।
जरूरी है यह देखना
कि जूते के फ़ीते ठीक बँधे है या नही
और क्रीज ताज़ी और सलामत है
चेहरों पर चिकनी हजामत की चुस्ती है
और चलते समय सबके क़दम ठीक मिलते है।
हो सकता है वे समवेत स्वरों में

नियमावली खोलकर पढ़े
और दमकलों के पीतल को चमकाने लग जाये।

यह ऐतिहासिक तथ्य है
कि अपनी आग अपने को ही बुझानी पड़ती है,
सभ्यता इस स्तर तक पहुँच गयी है
कि एक की आग दूसरे के घर का चिराग़ बन जाये।

आने दो हाहाकार चीत्कार
चारों तरफ़ सोख़्तों के पहाड़
वे खड़े कर देंगे
प्रतिध्वनि तक लौट कर नहीं आयेगी।
आने दो बहती ख़ून की नदी
चारों तरफ़ सोख़्तों के पहाड़ वे खड़े कर देंगे
सब सूख जायेगा—लाल,
कल जिनके शिखरों पर
उनके झंडे लग चुके होंगे।

इतिहास गूंगा होता है
इसे कौन नहीं जानता !

बेक़सूर लाशों के पास
हर बार बिलखती है
अकेली असहाय करुणा,
जब कि खाइयों में तनी बंदूक के चारों तरफ़
एक दुनिया खड़ी रहती है।

आँसुओं से भीगे वालों पर
चमक मशीनगन की
दीखती है हेयरपिन-सी
आदमी को न वंदूक होते देर लगती है
न लाश होते ।

सैनिक बूटो की समवेत ठोकर से
हर बार सूरज काला पड़ जाता है
महज उन कंधों से रोशनी फूटती है
जो लाशें उठाकर ले जाते हैं,
वे वदहवास होते है
नंगे पैर, कभी-कभी चीथड़े पहने,
शोक में सिर झुकाये,
विना हजामत के,
प्रार्थनाएँ करने के लिए
उनकी ज़वान नही खुलती
आँसू वहने लगते है ।

शब्द यदि बुलेट होते
तो वे तानाशाहों की छाती पर वैठे होते ।

पर ऐसा नहीं होता
इसे कौन नही जानता !
दुनिया देखती रहती है
और वे पड़े रहते हैं—मुक्ति सेनानी,
इस वार भी वह पड़ा है

घायल, दम तोड़ता,
खींचता नक्शा पीली धूल में
अपने देश का
फिर रक्त से उसे घेरता लाल
और फिर मृत पड़ती पुतलियों की हरियाली में
उसे उतारता।

वहीं वह भी है तानाशाह—
पंख फड़फड़ाता,
उचक-उचक बढ़ता बूढ़े गिद्ध-सा,
चीखता, पैंतरे बदलता
फिर उन पुतलियों को खाता,
इस तरह झंडे उतारता आज़ादी के स्वप्न का,
फिर धरती से उड़कर
बहुत ऊँचाई पर जा बैठता
इतिहास के तरुशिखरों को जलाता।

ऐसा क्यों होता है
कि हम मृतकों की संख्या
अंगूर के गुच्छों की तरह गिनते रह जाते हैं
और लाशें सड़ती रहती है ?
बेकसूर लाशें—
ममता भरी औरतों
और निश्छल विश्वास भरे बच्चों की
पूजा करते वृद्धों
और सच्चाई खोजते युवकों की,

आँसुओं से भीगे बालों पर
चमक मशीनगन की
दीखती है हेयरपिन-सी
आदमी को न बंदूक होते देर लगती है
न लाश होते।

सैनिक बूटों की समवेत ठोकर से
हर बार सूरज काला पड़ जाता है
महज उन कधों से रोशनी फूटती है
जो लाशें उठाकर ले जाते है,
वे बदहवास होते है
नगे पैर, कभी-कभी चीथड़े पहने,
शोक में सिर झुकाये,
बिना हजामत के,
प्रार्थनाएँ करने के लिए
उनकी जबान नही खुलती
आँसू बहने लगते है।

शब्द यदि बुलेट होते
तो वे तानाशाहों की छाती पर बैठे होते।

पर ऐसा नही होता
इसे कौन नही जानता !
दुनिया देखती रहती है
और वे पड़े रहते हैं—मुक्ति सेनानी,
इस बार भी वह पड़ा है

घायल, दम तोड़ता,
खींचता नक्शा पीली धूल में
अपने देश का
फिर रक्त से उसे घेरता लाल
और फिर मृत पड़ती पुतलियों की हरियाली में
उसे उतारता।

वही वह भी है तानाशाह—
पंख फड़फड़ाता,
उचक-उचक बढ़ता बूढ़े गिद्ध-सा,
चीखता, पैंतरे बदलता
फिर उन पुतलियों को खाता,
इस तरह झंडे उतारता आजादी के स्वप्न का,
फिर धरती से उड़कर
बहुत ऊँचाई पर जा बैठता
इतिहास के तरुशिखरों को जलाता।

ऐसा क्यों होता है
कि हम मृतकों की संख्या
अंगूर के गुच्छों की तरह गिनते रह जाते हैं
और लाशें सड़ती रहती है ?
बेकसूर लाशें—
ममता भरी औरतों
और निश्छल विश्वास भरे बच्चों की
पूजा करते वृद्धों
और सच्चाई खोजते युवकों की,

क्या आजादी की भावना
दुनिया का सबसे संहारक अस्त्र है
जिसे समाप्त करना
सबसे अधिक जरूरी है ?

देखो देखो—
वे आजाद आदमी से डरते हैं,
सारी दुनिया आजाद आदमी से डरती है
क्योंकि उसकी हथेलियाँ
इस दुनिया को रचती हैं
और फूल और साँप के फनों का अंतर नहीं जानतीं
उन्हें एक-सा थाम लेती है।

मशीनगनों से घिरी
उसकी अकेली तमचे की आवाज़
शखध्वनि-सी सुनायी देती है
और एक नयी संस्कृति
मानवता की वेदी पर आ बैठती है।

साँप का फन नहीं है यह आजादी की भावना
जिसे तुम कुचल दोगे,
वह एक सुगंधि है
जो एक सड़ते नाबदान में
सारी दुनिया के सूअरों के घुघुआते बैठ जाने पर भी
नष्ट नहीं होगी।
तुम जितनी आग बरसाओगे

उतनी ही दूर-दूर तक फैलेगी
धुएं के साथ ऊपर और ऊपर उठती जायेगी ।

इतिहास गूंगा भले हो
पर अंधा नहीं होता कि उसे देख न सके ।

एक बार फिर
यह धुआँ उठ रहा है,
एक बस्ती जल रही है,
और सारी दुनिया कुएँ की जगत पर
पाँव पसारे बैठी है—
इतिहास देख रहा है ।

(१३ अप्रैल, १६७१)

शरणार्थी

काली आँधियों
और मूसलाधार बरसात में
इन छोलदारियों में पड़े
याद करने के लिए हमारे पास बहुत कुछ है—
यही कि दुनिया कितनी जल्दी कितना सिमट जाती है,
और ईश्वर कितना असहाय दीखने लगता है।
और आदमी ?
उसकी बात मत करो
बेहतर है कि मुझे किसी
आदमखोर जानवर की माँद में ले चलो
कम-से-कम पेट भरे होने पर
वह हमला तो नहीं करेगा।

याद करने दो—

वह नमक जो आज राशन में
तुम्हारी कृपा से मुझे मिला था
कही किसकिसा तो नही रहा था,
तुमने यदि मुझे धूल से उठाया है
तो हमें भी उसे धूल से उठाना ही था,
पिचकी तश्तरियों में
बीननी थीं कंकड़ियाँ चावल की कनी से।
मैं पेट बजा कर गा सकता था
यदि उस पर मेरा बस होता।

अकृतज्ञ हम नहीं हैं।

याद करने दो—
कितनी बार मैंने हाथ फैलाया है,
बेकसूर हाथ
जो अपने खेतों में पानी देने से लेकर
अपनी कब्र खोदने तक के लिए तैयार था
उसे फैलाया है
तुम्हारे सामने
और खुद को उन लाशों से
बदतर महसूस किया है
जो हमारे साथ-साथ
नदी में बहकर आयी थी।
अकृतज्ञ मैं नहीं हूँ, जिन्दा हूँ।

मैं नहीं जानता

यह जो सिक्का तुमने मुझे दिया है
वह किसका है
किसी मरी हुई चिड़िया के पंख की तरह
वह मेरी मुट्ठी में पसीज रहा है।

याद करने दो—
भागने से पहले
मैं अपने पालतू पक्षियों को
पिंजड़ों से उड़ा आया था या नहीं।
क्या कोई पेड़ आग से बाकी बचा था
जहाँ वे बसेरा ले सकें!
क्या आग मेरे घर के ठाकुरद्वारे तक
पहुँचकर बुझने लग गयी थी
जिसमें सुरक्षित थी
मेरे पितामह की दी हुई वंशावलि!

आँधी तेज है
और मेरी बहू
बाहर से लौटी नहीं है।
शाम से ही उसके साथ
ठीक वैसा ही एक चेहरा था
जैसा मैंने वहशी सिपाहियों के
गिरोह में देखे थे,
जिन्होंने मेरी बेटी को
अधमरा कर दिया था।
अकृतज्ञ मैं नहीं हूँ

लेकिन कभी-कभी
जिसके हाथ में बंदूक है वह
और जिसके हाथ में सहायता-कोष है वह
एक जैसे दीखने लगते हैं।

यह न समझिए कि मैं
अपनी बहू की चिन्ता कर रहा हूँ
मेरा बेटा मर चुका है,
और मेरी बेटी आपके अस्पताल में है।
जिस समय वह दबोच ली गयी थी
उस समय वह कई दिनों के भूखे
बछड़े के मुख की जाली खोल रही थी
जिससे कि वह बँसवारी से हो कर
कछार की ओर निकल जाय।

मुझे याद करने दो—
कितनी देर बाद वह बँसवारी जलने लगी थी
और कछार से कब मशीनगनों की आवाज आने लगी थी।

आँधी तेज है
और बड़ी-बड़ी बूँदे गिरने लगी हैं
मेरी ओर क्या देखते हो!
एक बात बताऊँ…
बहुत ज्यादा मरे हुए चेहरे देखने के बाद
जिन्दा चेहरे भी मरे हुए लगने लगते हैं
और दहशत पथरायी पुतलियों से अधिक

देखती पुतलियों से होने लगती है ।
साँस लेते समय अपनी छाती उठते-गिरते देख
डर लगता है जैसे कोई संगीन रख देगा ।

पर तुम्हें इससे क्या
तुम एक ऐसे देश में हो
जहाँ आसानी से मेरे हमदर्द बन सकते हो
बिना कुछ खोये दया कर सकते हो
बिना कुछ गँवाए करुणा बरसा सकते हो ।
तुम्हारे लिए उदार हो सकना उतना ही आसान है
जितना मेरे लिए मर सकना कठिन है ।

मेरा मतलब यह नहीं है
कि मैं तुम्हें उनकी याद दिलाना चाहता हूँ
जो इस शरणार्थी शिविर में
नाम दर्ज होने की प्रतीक्षा करते
छोलदारियों के बाहर मर गये
या तो भूख से
या बीमारी और घावों की यंत्रणा से ।

मैंने एक साथ सुनी थी—
सहायता लेकर आयी तुम्हारी ट्रेन की सीटी,
हवाई हमले का सायरन,
और मरते आदमी के परिवार की चीख ।

याद करने दो मुझे—

क्या किसी और ने भी मुझसे यह कहा था
और उस समय वह किस हालत में था
नंगे भूखे बच्चे को गोद में लिये
या उसे कीचड़ में छोड़
आँखें बन्द कर
उन शब्दों को याद करता जिन्हें वह भूल चुका है।

कितना आसान है यह कह देना
कि मेरा कोई नहीं है
और कितना कठिन
कि मेरा कोई है।

याददाश्त एक पगडंडी है
जिस पर कटे हुए पैर का खून
टपकता जा रहा है।
मुझे अपने जिस्म से प्यार है
और उन हिस्सों की याद आती है
जो कट कर गिरे और छूट गये।
अपने जिस्म का एक कटा हुआ हिस्सा
क्या तुम कहीं छोड़ सकते हो ?
लेकिन तुम्हें यह सोचने की जरूरत नहीं है
तुम्हें कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं है।

आदमी की लाश को
कभी झंडे की तरह फहराया जाता है,
कभी पोस्टर की तरह उठाकर

घुमाया जाता है,
कभी पूजा के लिए रख लिया जाता है
कभी दरख्तों और मेहरावों पर लटकाकर
कोई ख्वाब देखा जाता है।

दुनिया लाशों का इस्तेमाल वखूबी समझती है।

याद करने दो मुझे—
यह फिकरा मैंने कब सोचा था
उस समय जब मैं मरने से डरा था
या अब जब जीने से डर रहा हूँ।

वहुत सारे लोग हैं
जो वेकसूर भाषा वोलते हैं
और सजा पाते हैं,
वेकसूर जिन्दगी जीते हैं
और शरणार्थी कहलाते है।
पर छोड़ो इसे
काली आँधियों
और मूसलाधार वरसात में
इन छोलदारियों में पड़े
याद करने के लिए हमारे पास
और भी वहुत कुछ है—

एक खेत
एक अमराई

एक नदी
एक नाव

कुछ मछलियाँ
कुछ बच्चे
कुछ बुजुर्ग
कुछ धर्मग्रंथ

एक गीत
एक स्वर
एक सपना
एक घर

कुछ साथी
कुछ आशाएँ
कुछ भरोसा
कुछ बाधाएँ
सच, याद करने को बहुत कुछ है।

पर हर बार लगता है
मैं कोई ताबूत खोल रहा हूँ
एक उदास हरहराते प्रवाह में
प्रेत-सा डोल रहा हूँ।

अपनी पहचान खो कर
दूसरों की पहचान का साधन बनने से अच्छा है

कि रोशनियाँ न रहें,
जिससे कि हम
एक-दूसरे के चेहरे न देख सकें।

(१३ मई, १९७१)

कम्बोदिया

जब शांति
निर्दोष जमे काले खून पर भी
नाखूनों की खरोंच जैसी दीखने लगे
तब समझ लो अब कुछ कहने को नहीं रहा।

जब जंगल जल रहे हों आदमियों के
और बस्तियां औरतों बच्चों समेत
खाक में मिल रही हों
तब जान लो अब कुछ समझने को नहीं रहा।

तब चुपचाप बढ़ कर
उस काले झंडे को सँभाल लो
जिसे कोई अकेला
मशीनगनों के सामने लिये खड़ा हो।

कि रोशनियाँ न रहें,
जिससे कि हम
एक-दूसरे के चेहरे न देख सकें।

(१३ मई, १९७१)

कम्बोदिया

जब शांति
निर्दोष जमे काले खून पर भी
नाखूनों की खरोंच जैसी दीखने लगे
तब समझ लो अब कुछ कहने को नही रहा ।

जब जंगल जल रहे हों आदमियों के
और बस्तियाँ औरतों बच्चों समेत
खाक में मिल रही हों
तब जान लो अब कुछ समझने को नही रहा ।

तब चुपचाप बढ़ कर
उस काले झंडे को सँभाल लो
जिसे कोई अकेला
मशीनगनों के सामने लिये खड़ा हो ।

उस समय शायद तुम्हें एक चीख सुनायी दे
जो भय से नही संकल्प से निकलती है
और एक लाश अपने पैरों के पास गिरती दिखायी दे
जो अस्त्रों को छोटा करती है।

दबोचने और चबा लिये जाने के बीच
यह जो थोड़ा-सा समय है
उसमें तुम इतिहास लिखने के लिए
नहीं रह जाओगे।

कोई नही रह जाएगा।

इस गरीब धरती के
निहत्थे आदमियों की ओर से
कह दो;
जब सारे अस्त्र जवाब दे जाये
तब उस पत्थर से
वे इनसानियत का सिर फोड़ें
जिसे वे चाँद से लाये है।

(६ मई, १६७०)

दंगों के बाद

जब भी मैंने
आदमी की जानवरनुमा शक्ल बनानी चाही
उसने मेरे हाथ पकड़ लिये
जिसे तुम मन्दिरों और मस्जिदों के
चिड़ियाघर में खूँखार जानवरों-सा
ठंडे गोश्त की तरह चबाते हो।

एक गलीज मुख में
ईश्वर का नाम
झिंझोड़े-ठंडे गोश्त-सा।

ऐसा क्यों होता है ?
कि धर्मग्रन्थ छूकर भी
किसी आदमी के हाथ

जंगली जानवर के पंजे में बदल जाते हैं
जहरीले नाखून से वह
इनसान की सूरत नोचने लगता है,
और ईश्वर का नाम लेते ही
जीभ लपलपाने लगती है,
वह स्त्री के उन स्तनों को चबाने लगता है
जिसने उसे पाला है,
मंत्रों और आयतों की जगह
दहाड़ सुनाई देती है
—वहशी दहाड़
जिसके सामने
वेदी की पवित्र आग
और जलते मकान
एक जैसे हो जाते है,
पूजाघरों से आती सुगंधि
जलती लाशों की चिराइँध में बदल जाती है।
मैंने ईश्वर को
शहर की नालियों में पड़ी लाशों के पास बैठे
इन सवालों पर सोचते हुए देखा है
फिर भी ज्यों ही मैं
आदमी की जानवरनुमा शक्ल बनाने चला हूँ
उसने मेरा हाथ पकड़ लिया है
और धीरे से कहा है—
'उन्होंने अपनी नहीं मेरी शक्ल
जानवरनुमा कर दी है'
और सहसा कल की आबाद

और आज की वीरान बस्ती में
वह शृगालों के साथ रोने लगा है।

(१८ मई, १९७०)

युद्ध के नाम पर

जब कलम में स्याही
और बंदूक मे गोली
ठीक एक ही वक़्त पर भरनी हो
तब अपना चेहरा देखते ही बनता है,
कितना नाज़ुक फ़र्क रह जाता है
आदमी से जानवर
या जानवर से आदमी होने में।

मतलब यह—
कि बंदूक में गोली भरते ही
हम वहाँ खाली हो जाते है
जहाँ कलम में स्याही भरते ही
हम भरने लग गये थे।

दुश्मन के इलाके के पेड़
जागती नदियाँ,
इठलाते खेत,
सोते गाँव,
सब हमारी संवेदना में
इस तरह बहते चले आते हैं
जैसे ठाँठ से छिपे बरहों में पानी।

युद्ध के नाम पर—
कलम उठा कर
हम सब तहस-नहस नहीं कर पाते
न ही हर एक को मार पाते हैं,
हम बड़ी आसानी से
नफरत का मतलब समझते हैं
क्योंकि हम प्यार को पहचानते हैं,
हम कुछ भी इसीलिए मारते हैं
क्योंकि हम बहुत कुछ जिलाये रखना चाहते हैं।

मतलब यह कि हम
मानव सभ्यता को क्यारियों की तरह निराते हैं
जंगली घास उखाड़ फेंकते हैं
ताकि पूरी फ़सल बढ़े, फले-फूले,
या सड़ते कूड़े को जलाते हैं

ठीक इसलिए कि ज़हर साफ़ हो।
शत्रु किसी भौगोलिक सीमा का
पर्याय नही होता,
वह उतना ही बाहर होता है
जितना अपने भीतर,
उसे हम विवेक की रोशनी में पहचानते हैं
और विचारो की ऊँचाई से उसका क़द नापते हैं,
उस की बर्बरता हम
इनसानियत के सदर्भ में तौलते है,
चद कीड़ों को मारने के लिए
हम पूरे वन में आग नहीं लगा देते।

कलम उठाते ही
हमे मासूम बच्चे
निरीह औरते
मेहनतकश भोले गरीब इंसान
सब हमसाया नजर आते है,
उनकी दहशत
हमारी दहशत होती है
उनकी मौत
हमारी मौत,
चाहे वे शत्रु देश के ही क्यों न हों।

हर बेकसूर आदमी की लाश
हमारी कलम की स्याही में
उतर आती है
और हम सिर झुका
उस अनंत प्रार्थना में डूब जाते हैं
जो इंसान के लिए अक्ल की भीख मांगती है।

(१४ दिसम्बर, १९७१)

यही वह पत्थर है

यही वह पत्थर है
जिसमें मैंने ईश्वर को नहीं देखा ।

मेरा सिर मिथ्या गर्व से
ऊँचा न हुआ हो
पर झुका भी नहीं ।
बड़ी आसानी से
हर चलती सड़क के किनारे
इसे रखकर मैं बैठ सका
और उस दुर्घटना को
सही-सही देख सका
जो मेरी आत्मा में हर क्षण
घटती रहती है
और जिसे टोकने के लिए,

हमेशा मुझे फूलों की तलाश रही है ।

मैं इसे कहीं भी ले जा सका हूँ
और अँधेरे में इस से ठोकर खाकर
प्रार्थना मंत्रों की जगह
बेतहाशा गालियाँ दे सका हूँ ।

इसने मुझे इनसान की शक्ति पर
भरोसा दिलाया है
और हर कीचड़ पार कराने के लिए
बीच में प्रतिष्ठित हो गया है ।

कल मैं इसे टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ
उन खिड़कियों और
रोशनदानों पर फेंक सकता हूँ
जो झूठ की दीवारों में लगे हैं ।

क्योंकि मैंने इसमें
ईश्वर को नहीं देखा है
और इससे वह कुछ नहीं माँगा है
जो शब्दों और अनुभवों से परे हो ।

हो सकता है
कल कोई कुत्ता इस पर
पेशाब करके चला जाये
पर इससे मुझे क्या ?

मैं बड़े मजे में
इस पर सिर रखकर सो सकता हूँ
क्योंकि इसमें ईश्वर नहीं है ।

(२६ अक्तूबर, १६६९)

पथराव

कविता नहीं है कोई नारा
जिसे चुपचाप इस शहर की
सड़कों पर लिखकर घोषित कर दूँ
कि 'क्रांति हो गयी'
न हो बचपना
कि किसी चिड़िया पर रंग फेंक कर
चिल्लाने लगूँ
'अब यह मेरी है'।

जवान कटी औरत की तरह
वह मुझे अंक में भरती है
और रोने लगती है,
एक स्पर्श से अधिक

मुझे कुछ नही रहने देती
मेरे हर शब्द को
अपमानजनक बना देती है।
जितना ही मैं कहना चाहता हूँ
स्पर्श उतना ही कोमल होता जाता है
शब्द उतने ही पाषाणवत्।

आग मेरी धमनियों में जलती है
पर शब्दों में नही ढल पाती।
मुझे एक चाकू दो
मैं अपनी रगें काट कर दिखा सकता हूँ
कि कविता कहाँ है।

शेष सब पत्थर है
मेरी कलम की नोक पर ठहरे हुए;
लो, मैं उन्हें तुम सब पर फेंकता हूँ
तुम्हारे साथ मिलकर
हर उस चीज पर फेंकता हूँ
जो हमारी तुम्हारी
विवशता का मजाक उड़ाती है।

मैं जानता हूँ पथराव से कुछ नही होगा
न कविता से ही।

कुछ हो या न हो
हमें अपना होना प्रमाणित करना है ।

(६ सितम्बर, १६७२)

झाड़े रौ महँगुआ

दुइ पैसे का रंग डाल के झाड़े रौ महँगुआ।
तन पर एक न वित्ता कपड़ा
फटी लँगोटी लाँग नही,
सदा रहे भँड़ुआ होली के
आज दिना का स्वाँग नही,
दोऊ हाथ कीचड़ उछाल के झाड़े रौ महँगुआ।
दुइ पैसे का रंग डाल के झाड़े रौ महँगुआ।
ऐसा कौन बचा है
जिसने नही पढ़ाया युत्ता,
विन साँकल का द्वार खोलकर
घर में सोया कुत्ता,
रूप बनाए मरी खाल के झाड़े रौ महँगुआ।
दुइ पैसे का रंग डाल के झाड़े रौ महँगुआ।

गली - गली चप्पल चटकाई
भय मुसंड गिरधारी,
सबने ठेंगा ही दिखलाया
काम न आयी यारी,
हर कुएँ में भंग डाल के भाड़े रौ महँगुआ।
दुइ पैसे का रंग डाल के भाड़े रौ महँगुआ।
घर में भूजी भाँग नहीं
औ' बाहर मियाँ मुजफ़्फ़र,
चारों खाने चित्त पड़े है
ऐसी खायी टक्कर,
बैगन खुद को बना थाल के भाड़े रौ महँगुआ।
दुइ पैसे का रंग डाल के भाड़े रौ महँगुआ।

(फरवरी, १९६९)

गरीबा का गीत

खबर लड़ाई की हमको न भाये
दिल घबराये भैया दिल घबराये।

सायरन चीख पड़ा कल आधी रात को
मुन्ना मेरा मचल गया नोन-तेल-भात को।

शाम हुई छा गया हर तरफ अँधेरा
अपना ही घर हुआ भूत का डेरा।

लेफ्ट-राइट, लेफ्ट-राइट करता सिपाही
राजा की बूँद-बूँद भर रही सुराही।

कहीं बंदूक चले, कहीं तोप गोला
मालमता निकल गया पड़ा रहा झोला।

कोई करनैल है तो कोई जरनैल है
वैद जी सफ़ाई करो कान भरा मैल है।

क्या करोगे जान कौन हारा कौन जीता
हाज़मा दुरुस्त करो खाके पपीता।

छोटे-छोटे बच्चों को भी दुश्मनी सिखायी
हाय मेरी अम्मा, हाय मेरी ताई।

चमाचम बूट और लकदक वर्दी
करे जिसे करनी हो आवारागर्दी।

इधर करो साफ़ उधर मकड़ी का जाला
जिसे देखो वही साला टूटा हुआ ताला।

रोटी कहाँ ताड़ी का लगाओ दो घूंटा
बीवी तोड़ाय के भाग गयी खूंटा।

जहाँ जाओ वहीं सब थमाते हैं कद्दू
बाप रहा लद्दू और बेटा है पद्दू।

गीत गरीबा का . जो कोई गाये
दरोगा पिटाई करे जेल में जाये।

(१३ दिसम्बर, १९७१)